

## चलो सिनेमा चलें

डॉ०बिभा कुमारी

जब सिनेमा से मेरा प्रथम परिचय हुआ था। मेरी उम्र उस समय तीन वर्ष थी, उन दिनों गाँव-कस्बों से सिनेमा देखने जाना किसी बड़े उत्सव से भी बड़ा उत्सव होता था, और शायद यही कारण है कि वो दिन मुझे आज तक याद है। गाँव से ट्रैक्टर पर सवार होकर तीन-चार परिवार एक साथ सामूहिक रूप से नजदीकी शहर के सिनेमा हॉल में गए थे। फिल्म थी-‘जय संतोषी माँ’। आज यद्यपि सिनेमा के दृश्य ठीक से याद नहीं हैं, लेकिन उस दिन के उत्साह को शब्द दे पाना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। सिनेमा तो तीन घंटे का ही था, किन्तु हम लोगों द्वारा उसे सुबह से रात तक का समय समर्पित किया गया था। इतना ही नहीं वापस आने के बाद तब तक आपस में उस फिल्म की बातें सभी करते रहे, जब तक कि अगली फिल्म ‘भाभी’ नहीं देख ली गयी। ये दोनों फिल्में कितने समय के अंतराल पर देखी गईं ये नहीं बता पाऊँगी, क्योंकि उस उम्र में मुझे समय की इतनी ही समझ थी-कम देर और ज्यादा देर, या फिर आज, कल, बहुत दिनों के बाद। तो बहुत दिनों बाद उसी ट्रैक्टर से, उसी थियेटर में एक बार फिर हम लोग पहुँच गए थे। फिल्म का एक भी दृश्य आज याद नहीं है, फिर कहानी का तो प्रश्न ही नहीं उठता है, पर उस फिल्म का एक गाना- ‘चली चली रे पतंग मेरी चली रे’ आज तक याद है, और यदि कभी ये गाना रेडियो या टेलीविजन पर सुनाई दे देता है, तो मेरी वाँछें खिल उठती हैं। कह सकते हैं कि उस परिवेश में उस पीढ़ी के हम वरदान प्राप्त बच्चे थे, जिन्हें थियेटर में ले जाकर फिल्में दिखाई जा रही थीं। वापस आने के बाद हमलोग आपस में तो फिल्म की चर्चा लगातार करते ही थे, पर जिन लोगों ने आज तक थियेटर का मुँह नहीं देखा था, उन्हें थियेटर कैसा होता है, पर्दा कैसा होता है से शुरू कर फिल्म के ‘द इंड’ तक का पूरा ब्योरा पूर्ण विस्तार से सुनाते थे। सुनने वालों के चेहरे पर अचरज के ऐसे भाव होते थे, जैसे हम अन्तरिक्ष की यात्रा करके लौटे हों। उस थियेटर में तीसरी फिल्म देखने का अवसर हमलोगों को नहीं मिल पाया क्योंकि पिताजी का स्थानांतरण हो गया था, और अब हमलोग ‘खोदाबनपुर’ नामक उस छोटे से गाँव से सीधा मुज्जफर जैसे बड़े शहर में आ गए थे। उस शहर में आकर तो जैसे मेरी बोलती ही बंद हो गयी थी, और आँखें चौंधिया गई थी। पिताजी हम सभ भाई-बहनों को सुबह-शाम बैठकर शहर के तौर-तरीके शिष्टाचार इत्यादि समझाया करते थे। उन्होंने हमें यह भी बताया कि यहाँ कई थियेटर हैं जहाँ छुट्टी के दिन हमें फिल्म दिखाने ले जाएँगे। फिल्म के नाम से हमारे चेहरों पर थोड़ी सी चमक तो आई, पर वह टिक नहीं पाई, क्योंकि यहाँ हमारी किसी से मित्रता नहीं थी, तो हम फिल्म का पूरा वर्णन किसे सुनाते? हमारे हाव-भाव देख पिताजी सबकुछ समझ गए और हमें समझाने लगे। गाँव से निकलकर इस बड़े शहर में आना हमारे लिए अच्छा है, यहाँ हमारे व्यक्तित्व का बेहतर विकास होगा, यह बात अलग है कि तब मुझे न व्यक्तित्व का अर्थ समझ आया था न ही विकास का, पर मैं ने पूछा नहीं, हमलोग उस पीढ़ी के बच्चे हैं जो अपने बड़ों से शब्द सुनते थे, पर उसका अर्थ स्वयं ढूँढने का प्रयास करते थे। नहीं पूछने का

पहला कारण यह था कि उन दिनों बड़ों और बच्चों के बीच एक दूरी रखी जाती थी, बच्चे माता-पिता और शिक्षक से उस तरह खुल कर बात नहीं करते थे, जिस तरह आज की पीढ़ी के बच्चे करते हैं। दूसरा कारण था कि एक शब्द का अर्थ पूछते ही वे उस शब्द का अर्थ तो बताते ही, साथ में उसका विपरीतार्थक शब्द, पर्यायवाची शब्द, समानार्थी शब्द, मिलते-जुलते शब्द, निकट के शब्द आदि बताने लगते, मतलब एक पूरी क्लास ही हो जाती। मेरे पिताजी काफी खुले विचारों के थे, बच्चों की पढ़ाई के साथ-साथ उनके मनोरंजन आदि का भी ध्यान रखते थे। यूँ कह सकते हैं कि वे और पिताजियों से बिलकुल अलग थे। मोटरसाइकिल के पेट्रोल की टंकी पर बैठकर उनके साथ शहर घूमना, मोटरसाइकिल से उतर कर उनकी कनिष्ठिका उँगली को अपनी मुट्ठी में भरकर अपनी पसंद की वस्तुएं खरीदना ज्यों की त्यों याद है। हाँ तो इस बड़े शहर में आते ही उन्होंने हमें शारीरिक और मानसिक रूप से वहाँ के अनुकूल तैयार करना शुरू कर दिया। रविवार के दिन हमलोगों को तैयार होने के लिए कहा और सिनेमा दिखाने ले गए। माँ-दादी, चचेरे भाई-बहनों समेत हम नौ भाई-बहन और पिताजी, मतलब हम दर्जन भर लोग पहली बार मुज्जफरपुर के थियेटर में गए, थियेटर का नाम तो भूल गई हूँ, पर भीतर जाते ही सारे भाई-बहन अवाक थे। ऐसा लग रहा था कि स्वर्ग या इंद्रासन जैसी यदि कोई जगह कहीं है तो यहीं है। वह एक भोजपुरी फ़िल्म थी- “रूस गेलै सइयाँ हमार” आज इस फ़िल्म के टाइटल सॉन्ग के अतिरिक्त कुछ भी याद नहीं है। दो फ़िल्मों के अंतराल में पहले जो बहुत दिन थे वे अब कम हो गए थे। यहाँ एक से बढ़कर एक थियेटर थे, और उसी शहर में हमलोग थे तो पहले की तरह ट्रैक्टर से जाने की मजबूरी भी नहीं थी। इन सभी सहूलियतों के मद्देनज़र हमलोग लगभग हर रविवार को फ़िल्म देखने जाने लगे। बातों ही बातों में पिताजी ने बताया कि उन्हें भी फ़िल्मों का बेहद शौक है, अपने छात्र-जीवन में उन्होंने काफ़ी फ़िल्में देखी हैं। उनकी यह कोशिश होती थी कि जो भी नयी फ़िल्म रिलीज़ हो, वह प्रथम दिन प्रथम शो में देखी जाय। कई बार इस कोशिश में कपड़े भी फट जाते थे। पिताजी के इस फ़िल्म-प्रेम को सुनकर फ़िल्मों में मेरी रुचि और भी बढ़ गयी। उन दिनों जो फ़िल्में देखी उनमें सबके तो नाम भी नहीं याद हैं, पर उनमें से कुछ फ़िल्मों के कुछ दृश्य मन-मस्तिष्क पर हमेशा के लिए अंकित हो गए। ऐसी ही एक फ़िल्म थी- ‘शान’ और दूसरी ‘राम और श्याम’। ‘शान’ एक मल्टी स्टारर फ़िल्म थी, और इसमें जो अब्दुल्ल का कैरेक्टर था वो आज भी ज्यों की त्यों याद है। उसका गाना -‘नाम अब्दुल है मेरा सबकी खबर रखता हूँ’ आज भी सुनती हूँ, तो शान फ़िल्म, घर से फ़िल्म जाना, सारे भाई-बहनों की खुशी, एक-दूसरे को चिढ़ाना आदि क्रिया-कलाप यूँ कह लीजिये कि उस पूरे दिन की एक-एक गतिविधि याद आ जाती है। ‘राम और श्याम’ की यह खासियत रही कि पहली बार हमलोगों ने डबल रोल वाली फ़िल्म देखी। यद्यपि उन दिनों मैं दिलीपकुमार को नहीं पहचानती थी, पर ‘राम और श्याम’ की बहुत गहरी छाप मेरे मन-मस्तिष्क पर पड़ी। इन्ही दिनों हमलोगों ने देखी “लव स्टोरी”। पता नहीं फ़िल्म बहुत पावरफुल थी या मेरी समझदारी बढ़ गयी थी, इस फ़िल्म की पूरी कहानी और लगभग सारे दृश्य आज तक बहुत अच्छी तरह याद हैं। खासकर वह गाना- “पर-पर पापापा”। उस दौरान देखी गयी अन्य फ़िल्में मेरे दिलो-दिमाग पर अपनी उपस्थिति दर्ज नहीं करवा पाई।

एक बार फिर पिताजी का तबादला हुआ और हमलोग उस बड़े शहर से रोसड़ा नामक कस्बे में पहुँच गए। यहाँ भी फ़िल्म देखने का क्रम अच्छा-खासा बना रहा। एक ही थियेटर था पर घर से वाकिंग

डिस्टेन्स पर होने के कारण हमलोग आसानी से कभी भी फ़िल्म देखने चले जाते थे। यहाँ एक और बात बता दूँ कि ये वही थियेटर था, जहाँ हमलोग खोदाबनपुर से ट्रैक्टर पर बैठकर 'जय संतोषी माँ' और 'भाभी' फ़िल्में देखने आए थे। इस थियेटर में हमलोगों ने 'खेल खिलाड़ी का' 'सिलसिला' 'माँग भरो सजना' 'नदिया के पार' आदि फ़िल्में देखी और हमारी फ़िल्मों की समझ थोड़ी और विकसित हुई।

स्थानांतरण नौकरी का कटु सत्य था सो हमलोग अब रोसड़ा से मधुबनी आ गए थे। यहाँ दो थियेटर थे, कभी तीन हुआ करते थे, जिनमें से एक अब बंद पड़ा था। दो थियेटर हमारी खुशी के लिए कम नहीं थे पर दिक्कत यह थी कि ये दोनों ही हमारे घर से बहुत दूर थे। पर हमलोगों ने बहुत जल्दी इस दूरी पर विजय पा ली और अनेक फ़िल्में देखी। जिनमें कुछ महत्वपूर्ण फ़िल्में रहीं- 'धर्म काँटा' 'पत्थर और पायल' 'शोले' 'खुद्दार' 'नसीब' 'मकसद' 'सोहनी महिवाल' 'गंगा जमुना सरस्वती' 'मैं ने प्यार किया' 'शंकरा' 'दिल का क्या कसूर' इत्यादि।

उच्च शिक्षा के क्रम में जब दिल्ली आना हुआ तब यहाँ भी बहुत फ़िल्में देखी। दिल्ली में सबसे पहली फ़िल्म देखी-रीगल में 'दिल तेरा आशिक'। अक्सर भाई-बहन व दोस्तों के साथ फ़िल्में देखने का कार्यक्रम बनता था। जिन थिएटर्स में हमलोग अक्सर जाया करते थे वे हैं- रीगल, रिवोली, ओडियन, उपहार, सावित्री, प्लाज़ा, डिलाइट, गोलचा, राधू पैलेस, बत्रा सिनेमा। इन दिनों कुछ थियेटर को दो या तीन पार्ट्स में बाँट दिया गया है। पिछले कुछ सालों में मॉल्स के फन सिनेमा, पीवीआर प्लाज़ा, डिलाइट डाइमंड आदि थियेटरों में भी फ़िल्में देखी। छात्र-जीवन में दिल्ली में जो फ़िल्में देखी सारी तो याद नहीं हैं पर उनमें से प्रमुख फ़िल्में हैं- '1942 ए लव स्टोरी' 'पहला पहला प्यार' 'दिलवाले दुलहनियाँ ले जाएँगे' 'हम आपके हैं कौन' 'राजा हिन्दुस्तानी', 'जीत' 'जिद्दी' 'जुड़वाँ' 'दिल तो पागल है' 'मृत्युदंड' 'इश्क' 'परदेस' 'हम दिल दे चुके सनम' 'लगान' आदि। आज रीगल और गोलचा जैसे थियेटर का बंद हो जाना एक युग के समाप्त होने जैसा है। हमारी और हमसे पहली पीढ़ी के लोग इन थिएटर्स के साथ अपनी कितनी ही यादें सँजोए हुए हैं। दो हजार आठ की जनवरी में माँ-पिताजी, मैं मेरे पति और बच्चों ने 'तारे जमीन पर देखी' दरभंगा में। यह फ़िल्म मेरे बेटे के आग्रह पर पिताजी ले गए थे हमलोगों को। इस फ़िल्म देखने के कार्यक्रम में मैं ने अपना पुराना बचपन जी लिया। तब छोटा बेटा मात्र डेढ़ साल का था। पर बड़ा बेटा बहुत खुश था। थियेटर में जाने का ये उसका पहला अवसर था। उसके बाद दोनों बच्चे और पति के साथ ओडियन में कृष 2 देखी। इन दिनों बेटों के साथ अनगिनत फ़िल्में देखी जिनमें जंगल बुक, स्पाइडरमैन, अवेजर्स, दंगल, सीक्रेट सुपरस्टार आदि मुख्य हैं। दंगल फ़िल्म का असर हम सब लोगों के दिलो-दिमाग पर ऐसा रहा कि कभी भी हमलोग इस फ़िल्म पर, इसके गानों पर बात करने लग जाते हैं।

जयपुर के थिएटर्स बहुत मशहूर हैं और उन सबके नाम में मंदिर जुड़ा है। छात्र-जीवन में दोस्तों और भाई के साथ जयपुर में देखी थी- 'बरसात' एक बार पति और बच्चों के साथ भी राजमंदिर जाने का अवसर मिला। थियेटर तो वाकई काबिलेतारीफ है, बड़ी-बड़ी हस्तियों ने राजमंदिर के लिए कौम्प्लीमेंट दे रखा है, पर उस दिन फ़िल्म थी- 'एजेंट विनोद' तो उस दिन हमलोगों ने फ़िल्म नहीं थियेटर इञ्जोय

किया। पति के साथ दिल्ली के डिलाइटमें देखी फिल्में 'तनु वेड्स मनु2' और 'वाजीराव मस्तानी' बहुत अच्छी लगीं, और वे मेरे जीवन के अनमोल यादगार पल हैं। टेलीविज़न जब नहीं हुआ करता था तब भी, और जब घर का एक अति महत्वपूर्ण हिस्सा बन चुका है तब भी थियेटर जाकर फिल्म देखना और उससे जुड़ी यादों को सदा-सदा के लिए सँजो कर रखना मुझे बहुत अच्छा लगता है।

---

कृपया रचनाकार को मेल भेज कर अपने विचारों से अवगत करायें

